धर्म की तलवार

वीणा शिवपुरी

औरतों को निचले दर्जे पर रखने की कोशिश करने वालों से एक बात बार-बार सुनने में आती है। यह हमारी संस्कृति, हमारी परंपराएं हैं। वे लोग संस्कृति शब्द का इस्तेमाल ऐसे करते हैं जैसे प्रकृति, भगवान या अल्लाहताला ने खुद उन्हें यह सौंपी थी, जिसकी वे आज तक हिफाज़त करते आए हैं।

समझने की बात यह है कि हमारी संस्कृति, यहां की परंपराएं और सामाजिक रीति-रिवाज सभी समय के साथ बनते-बदलते रहे हैं। पिछले पांच हज़ार सालों में कितनी ही नस्लों, धर्मों के लोग यहां आए। यहीं बस गए, घुल-मिल गए। कितने ही धर्म जन्मे, फले-फूले। आज हम जिसे भारतीय संस्कृति कहते हैं वह अनेक संस्कृतियों का मिलाजुला रूप है। कोई भी संस्कृति एक नदी की तरह होती है, जिसमें बहुत सी नदियां नाले आकर मिलते हैं। समुद्र में गिरते समय उसमें कितना पानी उसका अपना होता है और कितना बाहर का, कहना मुश्किल है। जिंदा संस्कृति वक्त के साथ बदलती रहती है। वरना ठहरे हुए पानी की तरह सड़ने लगेगी।

धर्म पर बात करें

खान-पान, पोशाक, रीति-रिवाज, कलाओं के साथ-साथ धर्म भी संस्कृति का हिस्सा होता है। यह बात तो जानी-मानी है कि आज के सभी धर्म स्त्री को दबा कर रखने के पक्ष में हैं। वे मर्द को, खासतौर पर पति को ऊंचा दर्जा देते हैं। औरत को चार-दीवारी में बांधने, उस पर सैकड़ों बंधन लगाने और गिरा हुआ दर्जा देने में धर्मों की खास भूमिका रही है। इसी कारण नारीवादी सोच को सभी धर्मों से काफ़ी शिकायतें हैं।

धर्म आम लोगों की जिंदगी का अहम हिस्सा है। खासतौर पर आम औरत की जिंदगी इससे नज़दीक से जुड़ी है। सभी परंपराएं निभाने का बड़ा बोझ औरतों के कंधों पर डाला जाता रहा है। धार्मिक अनुष्ठान करने, नियम-कायदे पालने और ये सब अगली पीढ़ी तक पहुंचाने की ज़िम्मेदारी भी उन पर रही है।

महिला आंदोलन में धर्म के नकारात्मक पक्ष पर तो कुछ बात हुई है। औरतें ही क्यों दूसरों की लंबी जिंदगी के मन्नतें मानें, उपवास करें? पति मरे तो वे क्यों अशुभ समझी जाएं? उन पर क्यों

पर्दे का बंधन लगे? धर्म की नज़र में वे मर्द के बराबर की इंसान क्यों नहीं?

इन सब चर्चाओं से धर्म का पक्षपाती रूप तो सामने आ जाता है। लेकिन धर्म से पीछा तो नहीं छूटता, न ही उसका रूप सुधरता है।

सिद्धांत और व्यवहारिकता का फ़र्क

सैद्धांतिक रूप से यह माना जा सकता है इस संसार में मनुष्य पहले आया, धर्म बाद में। यानि अपनी कुछ ज़रूरतों को पूरा करने के लिए इंसान ने ही धर्म को बनाया। भगवान, खुदा या एक बड़ी ताक़त की कल्पना की। धीरे-धीरे इसका रूप बिगड़ा। इस संस्था का इस्तेमाल समाज के कमज़ोर वर्ग के शोषण के लिए किया जाने लगा। इसमें भाग्यवाद, पिछले जन्म के कामों का फल जैसी धारणाएं बनाईं, ताकि शोषित व गरीब अन्याय को भाग्य समझ कर चुप रहें।

इस सबके बावजूद धर्म सिर्फ़ ज़िंदा ही नहीं हैं, बल्कि बद से बदतर होते जा रहे हैं। पंडितों और मुल्लाओं के हाथ की कठपुतली बन रहे हैं। राजनैतिक नेता इसे हथियार की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं। आम लोगों के बीच यह प्यार की जगह नफ़रत फैला रहे हैं। क्या अब इसमें हमारे दखल का वक्त नहीं आ गया है?

पढ़े-लिखे, दिमागी स्तर पर धर्म और भगवान को न मानने वाले लोगों का जीवन भी इसके चंगुल से नहीं बचता। पैदाइश, शादी और मौत के समय चाहे या अनचाहे, ये हमसे जुड़ जाते हैं। फिर उन करोड़ों औरतों की ज़िंदगी को हम कैसे नज़र-अंदाज़ कर सकते हैं जिनके आने-जाने, खाने-पहनने, जीने-मरने पर धर्मों के पहरे बैठे हैं।

रास्ता क्या है?

अब सवाल यह है कि हमें शिकायत धर्म के होने से है या उसके स्त्री-विरोधी स्वरूप से। अगर होने को हम रोक नहीं सकते, अगर ज्यादातर औरतें उसकी ज़रूरत महसूस करती हैं, तो हम उसे बदलने की कोशिश क्यों नहीं करते। आखिर सभी धर्म वक्त के साथ बदलते रहे हैं। तो आज बीसवीं सदी में ये वक्त की ज़रूरत के अनुसार क्यों नहीं बदल सकते।

बदलाव के लिए कुछ नियम-कायदों को चुनौती देनी पड़ेगी। धर्मों की ताक़त औरतों को खुद अपने हाथों में लेनी पड़ेगी। धार्मिक ग्रंथों को पढ़-समझ कर उनकी अपने हिसाब से व्याख्या करनी होगी। हमें खुद तय करना होगा कि धर्म के हमारे लिए क्या मायने हैं। क्या धर्म है, क्या अधर्म। कौन से रीति रिवाज हमें मंज़ूर हैं, कौन से बदलने होंगे। धर्म के तहत औरत होने का क्या मतलब है। यानि आज तक जो काम मर्द हमारे लिए करते आए थे, अब हम खुद उन्हें संभालें। सबसे बड़ी बात तो यह कि हमें धर्म और भगवान की ज़रूरत है या नहीं, यह भी फ़ैसला हमारा अपना हो। मर्दों का, परिवार का या समाज का थोपा हुआ नहीं।

तभी हमारे सिरों पर लटकी हुई धर्म की तलवार से पीछा छूटेगा। अगर हमारी ज़िंदगी में धर्म और भगवान या खुदा होंगे भी तो खुद हमारी मर्जी से। हमारे एक दोस्त की तरह। एक ऐसा दोस्त जो हम कमज़ोर पड़ें तो सहारा दे। सच पर अड़े रहने की हिम्मत दे। अपने विश्वासों के लिए लड़ने की ताक़त दे।

सदियों से हिन्दू धर्म में औरतें पूजा पाठ

करवाने, वेदपाठ करने के काबिल नहीं समझी जाती थीं। माहवारी जिससे एक नए जीव का शरीर बनता है को अशुद्ध माना गया। जबकि उससे पवित्र कोई खून नहीं। विधवा को तो पूजा में आने तक की मनाही की गई।

इस सबको बदला है पूना शहर ने। जहां आज सैकड़ों औरतें पंडिताई की शिक्षा पाकर यज्ञोपवीत से लेकर शादी तक करवाती हैं। बड़े-बड़े हवन और यज्ञ करवा रही हैं। इन्हें ऋषिका कहा जाता है। समाज ने इन्हें सिर्फ़ कबूल ही नहीं किया बल्कि बड़ी इज्ज़त की जगह दी है। इन्हें वेदपाठ और अनुष्ठान के लिए विदेशों में भी बुलाया जाता है। सबका कहना है कि ये पुरुष पंडितों से ज्यादा नियम, क़ायदे और भक्तिभाव से अपनी ज़िम्मेदारी निभाती हैं। ये ऋषिकाएं कई सालों का प्रशिक्षण पा चुकी हैं। विधवा स्त्रियां भी ऋषिका की ट्रेनिंग पा सकती हैं।

पूना में उठाए गए इस क्रांतिकारी कदम को एक लहर का रूप लेना चाहिए। औरतें सिर्फ़ पूजा पाठ ही नहीं कराएं, धर्म की ज्ञाता और विशेषज्ञ बनें। हमें उस दिन का इन्तज़ार रहेगा जब औरतें शंकराचार्य, इमाम और पोप की गद्दी संभालेंगी। □

सभी धर्म स्त्री को दबाकर रखने के पक्ष में हैं। वे मर्द को, खासतौर पर पति को ऊंचा दर्जा देते हैं। औरत को चार-दीवारी में बांधने, उस पर सैकड़ों बंधन लगाने और गिरा हुआ दर्ज़ा देने में धर्मों की खास भूमिका रही है। इसी कारण नारीवादी सोच को सभी धर्मों से काफी शिकायतें हैं।